

आत्मा के उपचार

एक आंतरिक पुस्तकालय

CANON ACTVARIANVS की भावना में हिंदी संस्करण

प्रस्तावना

एक प्राचीन परंपरा कहती है कि फ़राओ रामेसेस द्वितीय के पवित्र पुस्तकालय के प्रवेशद्वार पर यूनानी शब्द अंकित थे: ψυχῆς ἰατρείον — अर्थात् आत्मा का चिकित्सालय; या, कुछ अधिक स्वतंत्र और शायद अधिक सुंदर अनुवाद में: आत्मा के उपचार।

पुस्तकें शब्दों के भंडार मात्र नहीं हैं। वे भीतर के रूपांतरण के साधन हैं, स्मृति के प्रतिध्वनि-कक्ष हैं, और ऐसे स्थल हैं जहाँ दूर-दूर के समय एक-दूसरे को नष्ट किए बिना साथ उपस्थित हो सकते हैं।

हर पुस्तकालय एक अनचाही आत्मकथा भी है। जिन्हें हमने चुना, छोड़ा, वर्षों बाद फिर खोला या फिर कभी न खोला — वे सब हमारे जीवन का एक गुप्त मानचित्र बनाती हैं। कोई भी बौद्धिक यात्रा पूरी तरह नियोजित नहीं होती। कुछ गुरु अप्रत्याशित रूप से आते हैं; कुछ पुस्तकें हम बहुत जल्दी पढ़ लेते हैं; और कुछ को समझने के लिए हमें इतना जीना पड़ता है कि अनुभव स्वयं उनकी व्याख्या बन जाए।

भारतीय प्रश्न

भारतीय दार्शनिक परंपरा इस बिंदु पर एक अस्थिर कर देने वाला प्रश्न उठाती है: यदि हर पुस्तकालय एक आत्मकथा है, तो वह “मैं” कौन है जिसकी आत्मकथा लिखी जा रही है?

क्या मैं केवल अपने शरीर, स्मृतियों, इच्छाओं, भूमिकाओं, सफलताओं और घावों का योग हूँ? या इन सबके भीतर और इनके पार कोई ऐसा आयाम भी है जिसकी पहचान अभी पूर्ण नहीं हुई?

यहीं से प्राचीन भारतीय चिंतन का एक मूल शब्द सामने आता है: आत्मन् — ātman।

आत्मन् — मैं कौन हूँ?

उपनिषदों में मनुष्य से बार-बार पूछा जाता है: जो बदलता रहता है, क्या वही मेरा सम्पूर्ण सत्य है? शरीर बदलता है, भावनाएँ बदलती हैं, स्मृतियाँ बदलती हैं, विश्वास टूटते और बनते हैं। तब प्रश्न उठता है: इन परिवर्तनों को देखने वाला कौन है?

भारतीय चिंतन जीवन-कथा को नकारता नहीं, पर उसके प्रति दूरी खोलता है। मेरा इतिहास मेरा है; पर शायद मैं केवल अपना इतिहास नहीं हूँ। मेरे साथ जो हुआ, वह मेरे जीवन का भाग है; पर वह मेरे अस्तित्व की अंतिम परिभाषा नहीं है।

कर्म — कर्म केवल भाग्य नहीं

कर्म मूलतः क्रिया है। क्रिया बाहरी संसार को ही नहीं बदलती, करने वाले को भी बदलती है। बार-बार किया गया कर्म प्रवृत्ति बन सकता है; प्रवृत्ति चरित्र को आकार दे सकती है; और चरित्र भविष्य के चुनावों का क्षेत्र संकुचित या विस्तृत कर सकता है।

मैं केवल अपने कर्मों का लेखक नहीं हूँ; मैं आंशिक रूप से अपने कर्मों का परिणाम भी हूँ। भय, क्रोध और ईर्ष्या की तरह करुणा, धैर्य और संयम भी अभ्यास से गहरे होते हैं। कर्म भविष्य का पूर्ण निर्धारण नहीं करता, पर वह भविष्य की भूमि तैयार करता है।

धर्म — इच्छा से आगे

आधुनिक मनुष्य प्रायः पूछता है: मैं क्या चाहता हूँ? भारतीय परंपरा पूछती है: मेरे लिए क्या उचित है? यही धर्म — dharma — का क्षेत्र है। यह केवल “religion” नहीं; यह कर्तव्य, व्यवस्था, स्थिति-सापेक्ष नैतिक दिशा और अपने से बड़े ताने-बाने में स्थान का प्रश्न भी है।

इसलिए प्रश्न केवल यह नहीं कि मैं क्या कर सकता हूँ, बल्कि यह भी कि इस परिस्थिति में क्या करना उचित है — और क्या मैं वह कर सकता हूँ जब वह मेरी निजी इच्छा के विरुद्ध हो।

भगवद्गीता — कर्म करो, फल के स्वामी मत बनो

अर्जुन युद्धभूमि पर केवल युद्ध का सामना नहीं करता; कर्तव्य, स्नेह, भय, हिंसा, परिवार, नैतिक संदेह और मृत्यु एक ही क्षण में एकत्र होते हैं। वह निर्णय की उस अवस्था में पहुँचता है जहाँ हर विकल्प कुछ न कुछ घायल करता है।

गीता का उत्तर पलायन नहीं है। वह कर्म की माँग करती है, पर फल के प्रति आसक्ति को शिथिल करती है। परिणाम महत्त्वहीन नहीं है; किंतु सफलता को अस्तित्व का प्रमाण और असफलता को स्वयं का पूर्ण विनाश बना देना दासता है।

आज का मनुष्य अक्सर उपलब्धि और आत्ममूल्य को मिला देता है। तब असफलता यह नहीं कहती: यह प्रयास सफल नहीं हुआ। वह कहती है: मैं असफल हूँ। गीता इसी पहचान में दूरी पैदा करती है।

वैराग्य — विरक्ति नहीं, स्वतंत्रता

वैराग्य संसार-विमुख उदासीनता नहीं है। यह उस पकड़ को ढीला करना है जिससे हम वस्तुओं, संबंधों, सफलताओं और स्वयं की छवियों से चिपक जाते हैं। प्रेम और स्वामित्व अलग हैं। स्मृति और स्मृति में कैद रहना अलग हैं। दुःख अनुभव करना और दुःख को पूरी पहचान बना लेना अलग हैं।

वैराग्य का अर्थ जीवन से दूर होना नहीं, बल्कि जीवन को इतना कसकर न पकड़ना है कि परिवर्तन हमें तोड़ दे।

विवेक — भेद करने की क्षमता

विवेक — viveka — पूछता है: क्या स्थायी है, क्या अस्थायी? क्या तथ्य है, क्या कल्पना? क्या आवश्यकता है, क्या इच्छा? क्या भय है, क्या वास्तविक खतरा?

अवसाद कह सकता है: भविष्य समाप्त हो गया। विवेक पूछता है: क्या भविष्य समाप्त हुआ है, या भविष्य को अनुभव करने की मेरी वर्तमान क्षमता घायल हुई है? चिंता कह सकती है: आपदा आने वाली है। विवेक पूछता है: क्या आपदा उपस्थित है, या संभावना भय की भाषा में निश्चितता बन गई है?

कभी-कभी विचार और कर्म के बीच बना एक छोटा-सा अंतराल ही स्वतंत्रता का स्थान होता है।

योग — मन की हर गति मैं नहीं हूँ

योग को केवल आसनों तक सीमित करना उसके दार्शनिक अर्थ को अत्यधिक संकुचित करना है। विचार, स्मृतियाँ, भय, इच्छाएँ, क्रोध और पछतावा आते-जाते हैं। हम प्रायः हर मानसिक घटना से तुरंत अपनी पहचान बना लेते हैं।

लेकिन विचार होना तथ्य नहीं है। भावना होना प्रमाण नहीं है। इच्छा होना आदेश नहीं है। योग मनुष्य को दमन नहीं, बल्कि देखने की क्षमता देता है — मानसिक घटना और स्वयं के बीच एक आंतरिक दूरी।

मनोविकार और आत्मपहचान

मानसिक रोग केवल लक्षणों का संग्रह नहीं है। अवसाद भविष्य को बदल सकता है; उन्माद संभाव्यता की सीमा को बदल देता है; मनोविकृति वास्तविकता की स्थिति को ही परिवर्तित कर सकती है; जुनून स्वतंत्रता को अनुष्ठान में और चिंता संभावना को खतरे में बदल सकती है।

इस अर्थ में मानसिक रोग मानव-अस्तित्व की संरचना में एक दरार बन सकता है। फिर भी व्यक्ति को उसकी मानसिक अवस्था से पूरी तरह एकाकार कर देना दूसरी भूल होगी। वह अवसाद से पीड़ित हो सकता है, पर वह केवल “अवसाद” नहीं है।

पीड़ा का रोमानीकरण नहीं

आध्यात्मिक भाषा का दुरुपयोग बहुत आसानी से हो सकता है। गंभीर अवसाद को “आसक्ति” कहकर ढाल देना, मनोविकृति को “आध्यात्मिक जागरण” कहना या आघात को सरल कर्मफल बताना चिकित्सीय और नैतिक भूल हो सकती है।

दवा जहाँ आवश्यक है, वहाँ दवा चाहिए; मनोचिकित्सा जहाँ आवश्यक है, वहाँ मनोचिकित्सा; सामाजिक संरक्षण जहाँ आवश्यक है, वहाँ संरक्षण। दर्शन उपचार का विकल्प नहीं, बल्कि उस प्रश्न की ओर लौटना है: मैं अपने भीतर जो घट रहा है, उससे कैसा संबंध बनाऊँ?

अविद्या — भूल केवल जानकारी की कमी नहीं

अविद्या केवल तथ्यात्मक अज्ञान नहीं; यह अस्तित्वगत भूल भी हो सकती है। जो अनित्य है उसे नित्य मान लेना, जो साधन है उसे लक्ष्य बना लेना, जो भूमिका है उसे अंतिम पहचान समझ लेना, सफलता को आत्ममूल्य और पीड़ा को सम्पूर्ण अस्तित्व मान लेना — ये सब अविद्या के रूप हो सकते हैं।

आधुनिक संसार और तृष्णा

हम ऐसे युग में रहते हैं जिसने इच्छा को उद्योग बना दिया। नई इच्छा उत्पन्न होती है; तुलना जन्म लेती है; कमी का अनुभव बढ़ता है; उपभोग होता है; क्षणिक संतोष आता है; फिर नई कमी पैदा होती है।

व्यक्ति सोचता है: एक और उपलब्धि, एक और अनुभव, एक और प्रशंसा — फिर शायद मैं पूर्ण हो जाऊँगा। लेकिन इच्छा का चक्र यह वादा बार-बार आगे खिसकाता है।

मोक्ष — स्वतंत्रता किससे?

मोक्ष — mokṣa — केवल बाहरी बंधन से मुक्ति नहीं है। यह उस पहचान से मुक्ति भी है जो हर बदलती वस्तु पर अपने अस्तित्व की नींव रखती है; उस आग्रह से मुक्ति कि हर इच्छा पूरी होनी चाहिए; उस भय से मुक्ति कि हर हानि मुझे नष्ट कर देगी।

दार्शनिक अर्थ में मोक्ष उस दासता से दूरी है जिसमें मनुष्य हर क्षण कहता है: यदि यह मेरे अनुसार नहीं हुआ, तो मैं नहीं रह सकता।

ब्रह्मन् और आत्मन्

वेदान्त प्रश्न को और गहरा करता है। यदि वास्तविकता का अंतिम आधार ब्रह्मन् है, और यदि आत्मन् की खोज हमें उस आधार के निकट ले जाती है, तो व्यक्ति स्वयं को पूर्णतः पृथक् और आत्मनिर्भर इकाई कैसे समझे?

प्रसिद्ध सूत्र “तत् त्वम् असि — tat tvam asi — तू वही है” साधारण आत्मसम्मान नहीं, बल्कि अस्तित्व की गहरी एकता की ओर संकेत करता है। व्यक्ति का महत्व समाप्त नहीं होता, पर उसका पृथक्त्व अंतिम सत्य नहीं रहता।

पुस्तकालय का नया अर्थ

आंतरिक पुस्तकालय अब केवल स्मृति का संग्रह नहीं रहता। वह प्रयोगशाला बनता है: कौन-सी पुस्तक ने मुझे जानकारी दी? कौन-सी ने मुझे बदला? कौन-सी ने मेरी पहचान में दरार डाली? कौन-सी ने मुझे दिखाया कि मेरा “मैं” अनेक परिवर्तनों का परिणाम है?

और कौन-सी पुस्तक ने मुझे यह प्रश्न दिया: जो इन सबको देखता है, वह कौन है?

भारतीय संशोधन

Eudemoniapsyche को भारतीय दृष्टि एक नया आयाम देती है: मैं किस चीज़ से स्वयं को बाँध रहा हूँ? संतोष केवल इच्छा और वास्तविकता के समायोजन से नहीं, यह जानने से भी आता है कि इच्छा को अंतिम अधिकार देना आवश्यक नहीं।

इसलिए इस संस्करण की श्रृंखला है: आत्मन् → कर्म → धर्म → विवेक → योग → वैराग्य → मोक्ष।

अंतिम प्रश्न

मैं कौन हूँ, जब मैं अपने शरीर, स्मृतियों, इच्छाओं, भय और भूमिकाओं से स्वयं को पूरी तरह एक नहीं मानता?

क्या मैं कर्म कर सकता हूँ बिना इस माँग के कि उसका फल मेरी पूरी पहचान निर्धारित करे?

और शायद सबसे संक्षिप्त प्रश्न: मैं क्या खोऊँगा, यदि मैं उस सबको छोड़ दूँ जिसे मैं भूल से स्वयं समझ बैठा हूँ?

पुस्तकें इसलिए उपचार नहीं कि वे जीवन के सारे प्रश्न हल कर देती हैं। वे हमें अपने प्रश्नों से थोड़ी दूरी बनाकर उन्हें देखने की क्षमता देती हैं। वे स्मरण कराती हैं: हमारे विचार हम नहीं हैं; हमारी इच्छाएँ हम नहीं हैं; हमारी सफलताएँ और असफलताएँ भी हमारा सम्पूर्ण सत्य नहीं हैं। हमारा दुःख हमारा हिस्सा है, पर पूरा अस्तित्व नहीं।

न केवल यह पूछना: “मेरे साथ क्या हुआ?” बल्कि: “जो कुछ मेरे साथ हुआ, उसके पार मैं कौन हूँ?”

आत्मन् → कर्म → धर्म → विवेक → योग → वैराग्य → मोक्ष

ātman → karma → dharma → viveka → yoga → vairāgya → mokṣa